मैकॉले का भूत और स्कूली शिक्षा का भविष्य

(पुस्तक समीक्षा : मैकॉले, ऐलफिन्सटन और भारतीय शिक्षा)

अमित कोहली

आज भी मैकॉले का ज़िक्र किए बिना स्कूली शिक्षा की आलोचना या उसके सुधार पर विमर्श पूरा नहीं होता। किसी-न-किसी बहाने मैकॉले का भूत हमारे सामने आकर खड़ा हो ही जाता है। पाठ्यक्रम संशोधन का मसला हो या शिक्षा की गुणवत्ता का विषय, विद्यार्थियों के शालात्याग का सवाल हो या स्कूली संस्कृति के बेगानेपन की चर्चा, समावेशीकरण की पहल हो या सामाजिक पुनरुत्पादन की बहस... मैकॉले को हम भूले नहीं भुला पाते।

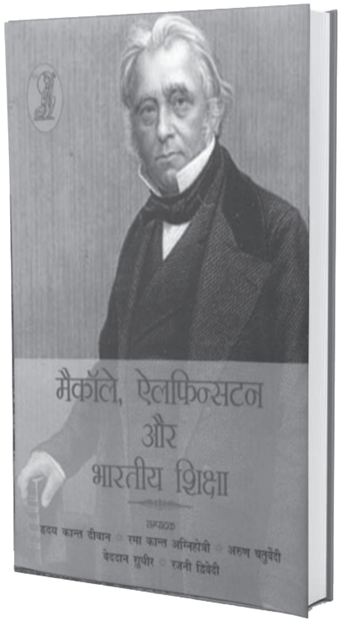

मैकॉले, ऐलफिन्सटन और भारतीय शिक्षा

सम्पादक
हृदय कान्त दीवान, रमा कान्त अग्निहोत्री, अरुण चतुर्वेदी, वेददान सुधीर और रजनी द्विवेदी

वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

शिक्षा के विद्यार्थी, शिक्षक, शिक्षक-प्रशिक्षक, शिक्षाविद् और शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले सरकारी व ग़ैर-सरकारी कार्यकर्ता, सभी का वास्ता मैकॉले से पड़ता है और बहुदा स्कूली शिक्षा के बारे में मैकॉले के योगदान (सकारात्मक या नकारात्मक) पर उनकी एक राय भी होती है, भले ही उन्होंने मैकॉले के मिनट्स पढ़ें हों या न पढ़े हों।

चूँकि मैकॉले आज भी जीवन्त और प्रासंगिक है– भले ही आलोचना करने, अपनी ज़िम्मेदारी से मुँह मोड़ने या इसके विपरीत अँग्रेज़ों को बेहतरीन व दूरदर्शी प्रशासक साबित करने के लिए ही सही– लिहाज़ा यह ज़रूरी हो जाता है कि हम उस दौर को, उस दौर की बहसों को, तत्कालीन जन-आकांक्षाओं को और अँग्रेज़ शासकों की परिस्थिति को समझते हुए मैकॉले के कहे और अनकहे से सीधे तौर पर रूबरू हों।

वाणी प्रकाशन द्वारा हाल ही में प्रकाशित पुस्तक मैकॉले, ऐलफिन्सटन और भारतीय शिक्षा (सम्पादक- हृदय कान्त दीवान, रमा कान्त अग्निहोत्री, अरुण चतुर्वेदी, वेददान सुधीर और रजनी द्विवेदी) न सिर्फ़ इस ज़रूरत को पूरा करने का एक समीचीन प्रयास है, बल्कि यह पुस्तक हमें मैकॉले के समय से शिक्षा को लेकर चली आ रही बहस के बीच ले जाकर खड़ा

कर देती है ताकि हम उस बहस की तमाम बारीक़ियों और पहलुओं से वाक़िफ़ होते हुए अपनी समझ को पुख़्ता कर सकें और फिर यह तय कर सकें कि शिक्षा के स्वरूप को लेकर चली आ रही इस बहस में हम ख़ुद को कहाँ खड़ा करें।

360 पन्नों की इस किताब में कुल 19 लेख और परिशिष्ट के रूप में 3 अनूदित दस्तावेज़ हैं। लगभग सभी लेखक ऐसे हैं जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में लम्बे समय ज़मीनी काम किया है और साथ ही अधिकांश लेखकों का शिक्षा के इतिहास, समाजशास्त्र व दर्शन पर गहन अध्ययन भी है। विविध अकादमिक-शैक्षिक पत्रिकाओं में ये लेखक लगातार लिखते भी रहे हैं। इस दृष्टि से

इस किताब में जो विश्लेषण, विवेचना और तथ्य पेश किए गए हैं , वे न सिर्फ़ ऐतिहासिक रूप से जाँचे-परखे और विश्वसनीय हैं, वरन् तमाम तर्क, सन्दर्भ और व्याख्याएँ शैक्षिक-अकादमिक अनुभव की ज़मीन से उपजी हुई हैं।

इस किताब में जो विश्लेषण, विवेचना और तथ्य पेश किए गए हैं वे न सिर्फ़ ऐतिहासिक रूप से जाँचे-परखे और विश्वसनीय हैं, वरन् तमाम तर्क, सन्दर्भ और व्याख्याएँ शैक्षिक-अकादमिक अनुभव की ज़मीन से उपजी हुई हैं। इसलिए यह किताब पढ़ना शिक्षा, इतिहास और शिक्षा के इतिहास में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए निहायत ज़रूरी हो जाती है। हालाँकि, इस किताब की कुछ कमियाँ भी हैं जिनका ज़िक्र हम प्रसंगानुसार आगे करेंगे।

पुस्तक के लेखों की सूची (अनुक्रम) देखें तो पता चलता है कि इसमें मैकॉले और ऐलफिन्सटन को केन्द्र में रखकर विविध आयामों पर विद्वान लेखकों ने अपनी बात रखी है, जैसे– अनिल सद्गोपाल का एक लेख 'मैकॉले बनाम फुले-अम्बेडकर' पर केन्द्रित है, दयाल चन्द्र सोनी ने गाँधी-मैकॉले द्वन्द्व की विवेचना की है, सी एन सुब्रमण्यम ने तत्कालीन मध्यम वर्ग की अपेक्षाओं-आकांक्षाओं के बरअक्स मैकॉले को देखने की कोशिश की है... आदि। इस तरह यह किताब मैकॉले प्रसंग की बहुआयामी और बहुस्तरीय पड़ताल करती है।

ख़ैर, प्रस्तावना में काफ़ी विस्तार से ऐलफिन्सटन और मैकॉले के काम की ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को पेश किया गया है। उद्योगीकरण और पूँजीवाद के विकास के साथ सामाजिक रूपान्तरण व लोकतन्त्र के विचार को प्रसारित करने में आधुनिक अंग्रेज़ी शिक्षा की भूमिका के महत्त्व को भी रेखांकित किया गया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित उद्धरण देखें–

> *"...यह पूरा प्रयास सामाजिक रूपान्तरण व ज़्यादा लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ बनाने की तरफ बढ़ने का पहला कदम भी साबित हुआ।" (पृष्ठ 9)*

प्रस्तावना में भारत की स्कूली शिक्षा की हर कमी (या कभी-कभी ख़ूबी भी) को अँग्रेज़ों, ख़ासतौर पर मैकॉले, के सिर मढ़ दिए जाने के रिवाज की आलोचना करते हुए उस रवैये पर गहन सवाल उठाए गए हैं और पाठकों को तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं के बरअक्स वस्तुस्थिति को देखने के लिए तथ्य व जानकारियाँ दी गई हैं, जैसे–

> *"हमें यह भी समझना होगा कि जिस बड़ी लहर ने इंग्लैण्ड व यूरोप को ऐसे राजनीतिक व सामाजिक बदलाव की ओर धकेला, जिससे उत्पादन व व्यापार, अन्धा-धुन्ध बढ़ने लगे और उससे कोई देश भी अछूता नहीं रहा वह थमी नहीं है। औद्योगिक फैलाव की यह लहर अब*

टैक्नॉलॉजी के लगातार विकसित होने व बढ़ने के कारण बढ़ी है। यह सवाल महत्त्वपूर्ण है कि वह राजनीतिक व सामाजिक बदलाव जिसने हमें बेपनाह व्यापार, अन्धा-धुन्ध उत्पादन, संचय व उपभोग की ओर धकेला है और जो हमें अन्ततः आज भूमण्डलीकरण व वैश्वीकरण की कगार पर ले आया है, क्या वह मैकॉले द्वारा निर्मित था? क्या जाति, सत्ता, शिक्षा, भूमि, पानी, लिंग आदि से जुड़ी खाईयों को मैकॉले ने बनाया था और गहरा कर दिया या फिर उसका कुछ और ही कारण है?" (पृष्ठ 12)

प्रस्तावना के बाद का लेख, 'ऐलफिन्सटन और मैकॉले के निहितार्थ', जिसे सम्पादक मण्डल के दो प्रबुद्ध व अनुभवी विद्वानों– रमा कान्त अग्निहोत्री और हृदय कान्त दीवान ने लिखा है, भी एक तरह से इस किताब की प्रस्तावना का विस्तार ही है। एक उदाहरण देखें–

इस किताब के लेख विभिन्न परिप्रेक्ष्य के लोगों द्वारा लिखे गए। सभी ने सन्दर्भित दस्तावेज़ों को देखा व समझा, किन्तु किसी भी लेख से ऐसा नहीं लगता कि मैकॉले व ऐलफिन्सटन को लेकर सामान्य तौर पर प्रसारित समझ में कुछ सत्यता है।

"...इस किताब के लेख विभिन्न परिप्रेक्ष्य के लोगों द्वारा लिखे गए। सभी ने सन्दर्भित दस्तावेज़ों को देखा व समझा, किन्तु किसी भी लेख से ऐसा नहीं लगता कि मैकॉले व ऐलफिन्सटन को लेकर सामान्य तौर पर प्रसारित समझ में कुछ सत्यता है।" (पृष्ठ 45)

इस लेख में लेखकद्वय शिक्षा व्यवस्था की दुर्दशा के लिए ऐलफिन्सटन और मैकॉले को ज़िम्मेदार मानने तथा उस दुर्दशा के वास्तविक कारणों को छिपाने की कोशिश की आलोचना करते हैं। साथ ही वे ऐलफिन्सटन और मैकॉले को ऐतिहासिक, राजनीतिक और कुछ हद तक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। सम्पादकों द्वारा इसी लेख को पुस्तक की औपचारिक प्रस्तावना बनाना पाठकों के लिए शायद अधिक सुविधाजनक होता।

इस लेख में लम्बे इतिहास के विस्तार में न जाते हुए सिर्फ़ ऐलफिन्सटन और मैकॉले के मिनट्स और उनकी पृष्ठभूमि की चर्चा है। शिक्षा के विद्यार्थियों और शिक्षा के क्षेत्र में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए यह जानना रोचक और उपयोगी हो सकता है कि ऐलफिन्सटन और मैकॉले की वैचारिक पृष्ठभूमि क्या थी, कम्पनी शासन में उनकी भूमिका क्या थी और किन सीमाओं में रहते हुए उन्होंने अपनी भूमिकाएँ निभाईं। इस जानकारी का कुछ अंश कुछ लेखों के अन्तराल के बाद शरद चन्द्र बेहार के लेख 'शिक्षा नीति निर्माता की खोज : मैकॉले के बहाने' तथा फिर वरदराजन नारायण के लेख 'ओरियंटलिस्ट : एंग्लिसिस्ट बहस; समृद्धता की पड़ताल' में कुछ अधिक विस्तार से है।

लेख में ऐलफिन्सटन के मिनट्स (1824) को मील का पत्थर बताया गया है। पाठकों को शायद यह नई जानकारी रोचक लग सकती है कि ऐलफिन्सटन के विचार में सरकार को शिक्षा के मसलों पर पहल तो करनी चाहिए लेकिन उसके हर पहलू को संचालित और नियन्त्रित नहीं करना चाहिए। शिक्षा के विमर्श व संचालन में व्यापक भागीदारी पर ऐलफिन्सटन ने ज़ोर दिया (पृष्ठ 45)। यानी, उसकी नज़र में स्कूलों का संचालन करने में जन भागीदारी ज़रूरी है। आज भी लगातार यह बात उठती रहती है।

हालाँकि, भागीदारी की वह योजना कम्पनी के ख़र्चों में कटौती के लिहाज़ से उपयुक्त

थी लेकिन साथ ही इसने स्थानीय जनता को जोड़ने में ऐतिहासिक रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। ज़ाहिर है कि शुरुआत में सम्भ्रान्त वर्ग ही इस योजना का हिस्सा बना लेकिन आगे चलकर, जैसा कि सी एन सुब्रमण्यम के लेख में ज़िक्र है, इस पहल से मध्यम वर्ग की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को भी पंख मिले। ज्योतिराव फुले और बी आर अम्बेडकर तो अँग्रेज़ों को बहुजनों-दलितों के उद्धारकर्ता के रूप में देखते हैं। ज़ाहिर है कि ऐलफिन्सटन का सचेत प्रयास तो कम्पनी का खर्च बचाना और स्थानीय वर्गों के विरोध को सीमित करने का था लेकिन परोक्ष रूप से सभी वर्गों के लोगों ने इस आधुनिक शिक्षा में अपने लिए कुछ-न-कुछ पाया। कुछ ने प्रभुत्वशाली वर्ग की नज़दीकी पाने के माध्यम के रूप में, कुछ ने नौकरी और सम्मानजनक पद पाने की आकांक्षा में तो कुछ ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के ज़रिए अन्धविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों और दमन का प्रतिकार करने के एक औज़ार के रूप में आधुनिक अँग्रेज़ी शिक्षा में सहभागी होना चाहा।

ऐलफिन्सटन ने एक और मज़ेदार तजवीज़ की–

"बच्चों को स्कूल भेजने के लिए स्थानीय लोगों को प्रेरित करने के लिए घर-घर जाकर टीका लगाने वाले कर्मचारियों की अहम भूमिका हो सकती है। ये लोग हर परिवार को इस बात के लिए प्रेरित कर सकते हैं कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें। यह काम स्थानीय टीका लगाने वाले और अन्य स्थानीय लोगों की मदद के बिना आगे नहीं बढ़ सकता।" (पृष्ठ46)[1]

हाल ही में प्रकाशित राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019 में 'सामाजिक कार्यकर्ताओं' की नियुक्ति का प्रस्ताव है; ऐलफिन्सटन के मिनट्स के बरअक्स इसे देखें–

"स्कूल कॉम्पलेक्स में उस भौगोलिक क्षेत्र के विद्यार्थियों एवं प्रौढ़ शिक्षार्थियों की संख्या के आधार पर पर्याप्त संख्या में सामाजिक कार्यकर्ता नियुक्त किये जायेंगे।

स्कूल कॉम्पलेक्स द्वारा सेवित क्षेत्र के साथ सामाजिक कार्यकर्ता एक गहरा जुड़ाव बनाएँगे। वे पूर्व नियोजित ढंग से माता-पिता और बच्चों के साथ काम करेंगे जिससे नामांकन और उपस्थिति सुनिश्चित हो और बच्चों का स्कूल से ड्रॉपआउट होना बन्द हो।"[2]

शिक्षा में ख़र्च की कटौती का यह 'नवाचारी' विचार 1824 से लेकर 2019 तक लगभग दो शताब्दियों की लम्बी यात्रा कर चुका है, फिर भी समस्या और उसका प्रस्तावित समाधान अपने मौलिक स्वरूप में यथावत है। घर-घर जाकर टीका लगाने वालों को स्कूली शिक्षा के लिए 'प्रेरक' बनाने का ऐलफिन्सटन का सुझाव किसी बहुरूपिए की तरह रूप बदलकर एनजीओ कार्यकर्ता या फ़ैलोशिप पर आए नौजवानों को सशक्तिकरण के नाम पर शालाओं में या शाला के बाहर अतिरिक्त समय में बच्चों को पढ़ाने के लिए भेजने जैसी पहलों में भी प्रकट हुआ है।

स्कूल कॉम्पलेक्स द्वारा सेवित क्षेत्र के साथ सामाजिक कार्यकर्ता एक गहरा जुड़ाव बनाएँगे। वे पूर्व नियोजित ढंग से माता–पिता और बच्चों के साथ काम करेंगे जिससे नामांकन और उपस्थिति सुनिश्चित हो और बच्चों का स्कूल से ड्रॉपआउट होना बन्द हो।

कुल मिलाकर ऐलफिन्सटन ने एक कुशल

1. साथ ही देखें इसी पुस्तक के पृष्ठ 270-271.

2. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019; मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार; पृष्ठ 224.

प्रशासक के रूप में किफ़ायत बरतते हुए आधुनिक शिक्षा के प्रसार की पहल की। स्कूलों को चलाने, किताबें लिखने, अधीक्षण करने आदि की एक प्रशासकीय व्यवस्था बनाने का प्रस्ताव दिया और इसके चुनिन्दा पहलुओं में जन भागीदारी की पैरवी की।

भारत में शिक्षा और साहित्य के उत्थान के लिए एक लाख रुपए की अनुदान राशि दिए जाने की मंजूरी हुई थी। उसका इस्तेमाल अधिकांशतया पुजारियों और मौलवियों को वज़ीफ़ा देने, प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद आदि पर किया जाता था। ऐलफिन्सटन ने उस अनुदान राशि के पुनर्वितरण की बात कही और उसे पाठशालाओं और अध्यापकों को पर्याप्त पैसा मुहैया कराने के लिए ख़र्च करने का प्रस्ताव दिया। लेख में ब्राह्मणवाद व जाति संकीर्णता की मुखर मुख़ालफ़त करने तथा बराबरी के सिद्धान्त पर अमल करने में ऐलफिन्सटन के मिनट्स में परिलक्षित होने वाली प्रशासकीय हिचकिचाहट को समकालीन भारत की प्रशासकीय अकर्मण्यता के बरअक्स खड़ा करते हुए सही कहा गया है–

"यह स्पष्ट है कि मैकॉले की मंशा भारतीयों को शिक्षा रहित और पिछड़ा रखने की नहीं थी" और आगे— "अँग्रेज़ी शिक्षा से गुजरा वर्ग ही यहाँ की स्थानीय बोलियों को समृद्ध कर उनमें ज्ञान का विकास करेगा और इन भाषाओं में नया ज्ञान आ सकेगा।"

> *"ऐलफिन्सटन बाहरी था। वह एक कच्चे प्रतीत होने वाले शासन को पक्का करने का रास्ता खोज रहा था, उसका सशंकित होना जायज तो नहीं है किन्तु फिर भी उतना निन्दनीय नहीं है जितना स्वतंत्रता के बाद और खासकर नव उदारवाद के बाद हमारी स्वतंत्र सरकार व उसके प्रशासन का इन मसलों पर चुप्पी साधे रहना था।" (पृष्ठ 47)*

इस लेख का उत्तरार्ध मैकॉले को एक विशिष्ट सन्दर्भ, जो कि ज़ाहिर है लेखकों की नज़र में सही सन्दर्भ है, में देखने की बात करता है; जैसे– इसमें कहा गया है

> *"यह स्पष्ट है कि मैकॉले की मंशा भारतीयों को शिक्षा रहित और पिछड़ा रखने की नहीं थी (पृष्ठ 46)।" और आगे– "अंग्रेजी शिक्षा से गुजरा वर्ग ही यहाँ की स्थानीय बोलियों को समृद्ध कर उनमें ज्ञान का विकास करेगा और इन भाषाओं में नया ज्ञान आ सकेगा (पृष्ठ 47)।"*

मैकॉले के कथन के निहितार्थ पर बात करने से पहले इसी पुस्तक में अनिल सद्‌गोपाल के लेख– 'मैकॉले बनाम फुले-गाँधी-अम्बेडकर का मुक्तिदायी शैक्षिक विमर्श' में फुले का एक उद्धरण देखें–

> *"...हमें तो ऐसे शिक्षक चाहिए, जो अपने हाथों में हल पकड़ सकेंगे या बढ़ई या सुतार की आरी को अपने हाथों में पकड़ कर इस्तेमाल कर सकें। उनमें यह भी क्षमता हो कि वे समाज के निचले तबके के साथ दोस्ती कर सकें इज्जत के साथ उनसे मिलजुल सकें।... आज शिक्षा विभाग में जितने शिक्षक नौकरी पा रहे हैं, वे सब उच्च वर्गों, उच्च वर्णों के हैं।" (पृष्ठ 87)*

आज यह दावा करना बहुत ही मुश्किल है कि मैकॉले की मंशा के अनुरूप परिणाम आए या नहीं, या यह कि उसकी मंशा क्या सच में वही थी जो लेखकों की राय है? क्योंकि आज भी हम अपने आसपास देख सकते हैं कि अँग्रेज़ी पढ़ा-लिखा व्यक्ति ब्राह्मण हो या दलित या आदिवासी– आमतौर पर वह अपनी संस्कृति, भाषा, पारम्परिक ज्ञान और कौशल से दूर हो

जाता है, बेगानेपन की दर तक... बहुत दूर। लेकिन साथ ही इस सच्चाई से भी मुँह नहीं मोड़ा जा सकता है कि आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ही देश में राष्ट्रवाद, लोकतन्त्र, समानता और स्वतन्त्रता जैसे मूल्यों और विचारों का आगमन व प्रसार हुआ। स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय आन्दोलन एवं सामाजिक पुनर्जागरण या समाज सुधार आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले नेता अँग्रेज़ी शिक्षा से होकर गुज़रे थे और / या उसके पुरज़ोर हिमायती थे। यह भी सच्चाई है कि भारत का आधुनिक औद्योगिक विश्व में प्रवेश का रास्ता आधुनिक शिक्षा से ही होकर गुज़रा है।

इसके बाद किताब में लगभग 30 पन्नों का एक बड़ा लेख ऐतिहासिक लेखन पर मनन करता है– 'मैकॉले और उसके बाद : ऐतिहासिक लेखन पर मनन'। इसमें लेखक विकास गुप्ता ने महात्मा गाँधी, जोसेफ़ डी बोना, राबर्ट ई फ्रायकेन्बर्ग, जॉन रोस्सेली, वी जी कुरकेन, माइकल एडस, विलियम एच प्रीचर्ड, कृष्ण कुमार, सी एस घोष जैसे विद्वानों की मैकॉले व भारतीय शिक्षा के सन्दर्भ में की गई टिप्पणियों की विस्तृत विवेचना है। विविध पहलुओं से मैकॉले को देखने में यह लेख मदद करता है ताकि हम उसका छद्म महिमा मण्डन और अतार्किक-निरर्थक आलोचना– दोनों करने से बच सकें। यह लेख स्रोत सामग्री के कुछ सिरे भी देता है, जिन्हें थामकर कुछ जिज्ञासु पाठक और किताबें भी पढ़ सकते हैं और इस तरह विषय की गहराई में उतर सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में कुछ स्थानों पर फुटनोट / एण्डनोट की कमी अखरती है, ख़ासतौर पर विकास गुप्ता के इस लेख में। फुटनोट आदि के ज़रिए उपयोगितावाद, प्राच्यवाद, बरतानवी इवेंजलिकवाद, सांस्कृतिक उपनिवेशवाद आदि पदों को समझने में कुछ पाठकों को सहज और तत्काल मदद मिल सकती थी।

सी एन सुब्रमण्यम अपने लेख 'थॉमस बेबिंग्टन मैकॉले और भारतीय मध्यम वर्ग' की शुरुआत में ही भारत के मध्यम वर्ग की उत्पत्ति के उद्देश्य को दो टूक रूप से हमारे सामने रखते हैं–

> *"भारतीय मध्यम वर्ग का जन्म औपनिवेशिक व्यवस्था को चलाने के लिए हुआ था और उसने बखूबी औपनिवेशिक मानसिकता को अपनी जीवन पहचान के रूप में अपनाया हुआ है।" (पृष्ठ 96)*

मध्यम वर्ग की उत्पत्ति के स्रोत और उसके द्वन्द्व को पेश करते हुए सुब्रमण्यम बताते हैं–

> *"इस आधुनिक मध्यम वर्ग के सृष्टिकर्ताओं ने इस नए वर्ग की रचना में उत्तर मुगल काल के कुलीन ब्राह्मण व अशरफ़ी पुरुषों का उपयोग किया। इन महानुभावों ने अपने पारम्परिक ज्ञान और साहित्य को पारिवारिक मार्गों से जारी रखना उचित समझा और सार्वजनिक जीवन में आधुनिक अंग्रेजी ज्ञान को प्रभुत्व देने की रणनीति से अपनाया। इस दुविधापूर्ण अस्तित्व ने कई विसंगतियों को पैदा किया– ब्राह्मणवाद और आधुनिकतावाद के बीच तथा आधुनिकतावाद के ही अन्दर राष्ट्रवाद और औपनिवेशिक वफादारी के बीच आदि। इन्हीं दुविधाओं और विसंगतियों के साथ इस मध्यम वर्ग ने*

इस सच्चाई से भी मुँह नहीं मोड़ा जा सकता है कि आधुनिक अँग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से ही देश में राष्ट्रवाद, लोकतन्त्र, समानता और स्वतन्त्रता जैसे मूल्यों और विचारों का आगमन व प्रसार हुआ।

राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया।" (पृष्ठ 97)

अंग्रेजी शिक्षा में दीक्षित मध्यम वर्ग की यह विसंगति हम आज भी विविध रूपों में देख सकते हैं। आधुनिक मूल्य और ब्राह्मणवादी मान्यताओं के असंगत मिश्रण की वजह से हमारे आज के स्कूलों में एक अजीब संस्कृति का विकास हुआ है। इसे हम शिक्षकों को प्रणाम करने या पैर छूने, दीवारों को देवी-देवताओं की तस्वीरों से सजाने से लेकर ख़ास प्रकार की भाषा-शैली को 'स्वीकार्य' और 'सही' मानने और अनुकरण करने, रटने, किताबों से नक़ल उतारकर कॉपियों में लिखने जैसी व्यवहारवादी शिक्षण पद्धतियों में देख सकते हैं। शालाओं में कम्प्यूटरों पर रोली-सिन्दूर का टीका लगाने से लेकर इसरो (ISRO) में चन्द्रयान की पूजा-अर्चना कर प्रक्षेपित करने तक में हम आधुनिक ज्ञान और ब्राह्मणवादी मूल्यों की विसंगति को देख सकते हैं।

"मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा मध्यम वर्ग जो अपने आपको अंग्रेजी हुकूमत का उत्तराधिकारी मानता है, वही औपनिवेशिक सोच लेकर भारत के अन्य हाशियाकृत और वंचित समुदायों की शिक्षा की बात करता है।"

भारत में आदिवासी शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए स्थापित आवासीय विद्यालयों (आश्रमशाला) की तुलना अमरीकी आदिवासियों की शिक्षा के प्रयासों के साथ करते हुए सुब्रमण्यम कहते हैं–

"मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा मध्यम वर्ग जो अपने आपको अँग्रेज़ी हुकूमत का उत्तराधिकारी मानता है, वही औपनिवेशिक सोच लेकर भारत के अन्य हाशियाकृत और वंचित समुदायों की शिक्षा की बात करता है।" (पृष्ठ 100)

सुब्रमण्यम की भाषा सरल है और लेख पढ़ते हुए हमें कोई रोचक कहानी पढ़ने जैसा अहसास होता है। मैकॉले के बहाने वह भाषाई और सांस्कृतिक उपनिवेशवाद की चर्चा करते हैं और आगे चलकर भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में स्थानीय भाषा, स्थानीय ज्ञान के स्थान जैसे राजनीतिक रूप से संवेदनशील प्रश्न को शिद्दत से उठाते हैं। अन्त में वह इस औपनिवेशिक शिक्षा का विकल्प रचने की चुनौती भी देते प्रतीत होते हैं। लेकिन वह इस बात का कोई संकेत या अनुमान नहीं देते कि वह विकल्प कहाँ से आएगा और कौन-सा सामाजिक वर्ग उसका वाहक बन सकता है? इस अर्थ में यह छोटा-सा आलेख किसी प्रकार का मार्गदर्शन न करते हुए एक सदाशा के साथ समाप्त हो जाता है।

इसके बाद के लेख का शीर्षक सुब्रमण्यम के लेख की विषयवस्तु से निकला हुआ प्रतीत होता है– 'मैकॉले की शिक्षा : भारतीय मानस का द्वन्द्व'। इस लेख की शुरुआत में विश्वम्भर अँग्रेज़ों के आने से पूर्व देशज शिक्षा व्यवस्था की बात करते हुए पाठशालाओं और मकतबों की शैक्षिक व प्रशासकीय व्यवस्था का उल्लेख करते हैं। हालाँकि, लेखक (या सम्पादक-मण्डल) ने किसी स्रोत का उल्लेख नहीं किया है, देशज शिक्षा– यह ज़िक्र धर्मपाल और पोरमेश आचार्य के उसी बात से सहमत नज़र आता है, जिसे सम्पादक-मण्डल ने प्रस्तावना में ही ख़ारिज कर दिया था।

कालू राम शर्मा अपने लेख 'मैकॉले पर फ़तह कैसे पाएँ?' में मैकॉले की परम्परागत आलोचना करते हैं और मैकॉले बनाम गाँधी को अँग्रेज़ी बनाम मातृभाषा में शिक्षा के रूप में तार्किक रूप से प्रस्तुत करने का सतही प्रयास करते हैं।

'थॉमस बैबिंग्टन मैकॉले' शीर्षक से अपने लेख में अमन मदान भारतीय मानस में मैकॉले

की प्रचलित नकारात्मक छवि को रेखांकित करते हुए उसे उसके समय में देखने का आग्रह करते हैं। मैकॉले ने अपने आरम्भिक जीवन में जो सामाजिक-राजनीतिक बदलाव देखे, उनका असर उसके व्यक्तित्व और विचारों पर होना स्वाभाविक ही था।

अमन मदान की इसी बात को शरद चन्द्र बेहार ने अपने लेख 'शिक्षा नीति निर्माता की खोज : मैकॉले के बहाने' में प्रकारान्तर से पर्याप्त विस्तार से लिखा है। यद्यपि अमन मदान मैकॉले को उस काल की सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं के बीच से गुज़रते और वैचारिक आकार ग्रहण करते एक प्रशासक के रूप में चित्रित करते हैं, जबकि बेहार अपने लेख में उसके निजी-पारिवारिक इतिहास को पेश करते हैं। और फिर मैकॉले को नीति निर्माता के रूप में समझने के क्रम में वह "समूचे प्रसंग में, सम्पूर्ण पार्श्वभूमि और समकालीन (तत्कालीन?) प्रवृत्तियों से समझने का गम्भीर प्रयत्न" (पृष्ठ 108) की विवेचना करते हैं। इस प्रक्रिया में बेहार सटीक शब्दों में एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं जो शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले हर व्यक्ति को जानना ज़रूरी है–

"शिक्षा की नीति चाहे कुछ भी हो, शिक्षा की उत्पत्ति और उपयोगिता ही शिक्षा प्राप्त करने वालों को प्रभावित करने, बदलने और नियंत्रित करने में निहित है। शिक्षा को परिवर्तन के माध्यम के रूप में स्वीकार करते समय हम इस बात को नज़रअन्दाज़ कर देते हैं कि परिवर्तन का मतलब ही शिक्षित होने वाले को शिक्षा देने वाले की इच्छा के अनुरूप बदलना है, जिसमें प्रभावित करने और किसी सीमा तक नियंत्रित करने की इच्छा शामिल है।"

बेहार की टिप्पणी को पाओलो फ्रेरे के उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र के समानान्तर देखना शिक्षा के अध्येताओं के लिए रोचक हो सकता है। वह कहते हैं–

"उत्पीड़न– अर्थात् अत्यधिक नियंत्रण– मृत्यु से प्रेम करना है। वह जीवन-प्रेम से नहीं, बल्कि मृत्यु-प्रेम से पोषित होता है। शिक्षा की बैंकीय अवधारणा भी, जो उत्पीड़न का हित साधन करती है, मृत्यु-प्रेमी होती है।... वह चिन्तन और कर्म को नियंत्रित करने का प्रयास करती है, और उनकी सृजनात्मक शक्ति को अवरुद्ध करती है।"[3]

यद्यपि बेहार समूचे शिक्षा तन्त्र की प्रकृति के नियन्त्रणकारी होने की बात कर रहे हैं, जबकि फ्रेरे शिक्षाशास्त्र में अन्तर्निहित नियन्त्रणकारी तत्त्वों की। लेकिन ज़ाहिर है कि दोनों ही माध्यमों से स्कूली शिक्षा व्यक्ति के मानस और

"उत्पीड़न— अर्थात् अत्यधिक नियंत्रण— मृत्यु से प्रेम करना है। वह जीवन–प्रेम से नहीं, बल्कि मृत्यु–प्रेम से पोषित होता है। शिक्षा की बैंकीय अवधारणा भी, जो उत्पीड़न का हित साधन करती है, मृत्यु–प्रेमी होती है।... वह चिन्तन और कर्म को नियंत्रित करने का प्रयास करती है, और उनकी सृजनात्मक शक्ति को अवरुद्ध करती है।"

विचारों को और इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के व्यवहार और कर्मों के साथ-साथ सपनों और आकांक्षाओं को भी नियन्त्रित तो करती ही है।

सी एन सुब्रमण्यम अपने लेख में जिस प्रकार के विकल्प को खड़ा करने का इशारा करते हैं, उसके टिक न पाने का एक बड़ा कारण शायद बेहार की टिप्पणी में ही निहित है। साथ ही कालू राम शर्मा अपने लेख का उपसंहार करते हुए होशंगाबाद विज्ञान और प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम जैसे नवाचारों के 'सरकार द्वारा कुचल दिए जाने' (पृष्ठ 142) की जो रोषभरी पीड़ा ज़ाहिर कर रहे हैं, उसका जवाब भी काफ़ी हद

3. पाओलो फ्रेरे, उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र, ग्रन्थ शिल्पी, 1996, पृष्ठ 58.

तक उक्त टिप्पणी में खोजा जा सकता है।

शिक्षा को उत्पादक कौशलों के साथ जोड़कर आर्थिक स्वावलम्बन के ज़रिए स्वराज यानी नियन्त्रण से मुक्ति हासिल करने वाली शिक्षा की योजना, मोहनदास करमचन्द गाँधी की नई तालीम का एक उदात्त विचार था। ज्योतिराव फुले और भीमराव अम्बेडकर ने आधुनिक अँग्रेज़ी शिक्षा को ब्राह्मणवाद के शोषणकारी नियन्त्रण से मुक्त होने के अनिवार्य माध्यम के रूप में स्वीकार किया। इस लिहाज़ से यह दुविधा बनी ही रहती है कि स्कूली शिक्षा के ज़रिए होने वाले नियन्त्रण या मुक्ति को हम वस्तुपरक (objective) ढंग से देखें या फिर व्यक्तिपरक (subjective) नज़रिए से।

शिक्षा को उत्पादक कौशलों के साथ जोड़कर आर्थिक स्वावलम्बन के ज़रिए स्वराज यानी नियन्त्रण से मुक्ति हासिल करने वाली शिक्षा की योजना, मोहनदास करमचन्द गाँधी की नई तालीम का एक उदात्त विचार था।

मैकॉले का एक व्यक्ति, एक विद्वान और एक प्रशासक के रूप में विकास, उसके समय में ब्रिटेन और भारत की परिस्थितियाँ और चल रही बहसें और फिर उसके मिनट्स को एक व्यापक और सिलसिलेवार ऐतिहासिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखकर मैकॉले के बारे में अपनी एक व्यवस्थित समझ बनाने के लिए पाठकों के लिए यह उपयोगी होगा कि वे शरद चन्द्र बेहार, अमन मदान और सी एन सुब्रमण्यम के लेखों को एक साथ रखकर पढ़ें।

'भारतीय शिक्षा में ऐलफिन्सटन का दख़ल' (लेखक– हृदय कान्त दीवान और रमा कान्त अग्निहोत्री) प्रकारान्तर से लेखकद्वय के पिछले आलेख 'ऐलफिन्सटन एवं मैकॉले के निहितार्थ' का ही विस्तार है। आलेख के आरम्भ में ही वे एक महत्त्वपूर्ण विरोधाभासी परिस्थिति पाठकों के सामने पेश करते हैं–

> *"शिक्षा के ढाँचे व उसकी प्राथमिकताओं की जो दिशा ऐलफिन्सटन के विचारों में दिखती है और जिसके बारे में हम कहते हैं कि उसी ने, उन्हें तय किया वे आज भी जारी हैं। वैसे तो उनके सिद्धान्तों से आज के ढाँचे का शाब्दिक विरोध है, किन्तु व्यवहार में नहीं... फर्क सिर्फ यह है कि ऐलफिन्सटन जिन पारम्परिक, धार्मिक व रीति-रिवाजों के प्रतीक व उनकी मान्यताओं की जड़ को धीरे-धीरे हटाना चाहता था वह और सुदृढ़ ही हुई हैं। आज भी देश के शिक्षा महाविद्यालय हिन्दू उच्च जाति के प्रतीकों से ओतप्रोत हैं और उनमें काम करने वाले अधिकांश प्राध्यापक ऊँची जातियों से ही हैं।" (पृष्ठ 149)*

लेखकद्वय ऐलफिन्सटन के सिद्धान्तों के शाब्दिक विरोध और व्यावहारिक स्वीकार्यता की बात कर रहे हैं। यह शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले सभी व्यक्तियों के लिए वाक़ई विचारणीय मसला है। उसमें दो बातें और जोड़ देनी चाहिए– एक तो यह कि बात सिर्फ़ शिक्षा महाविद्यालयों की नहीं, बल्कि समूचे शिक्षा तन्त्र में, ख़ासतौर पर निर्णयकारी पदों पर हिन्दू उच्चजातीय पुरुषों का वर्चस्व है, और दूसरी यह कि पिछले 2-3 दशकों में दक्षिणपन्थी राजनीति के क्रमिक उभार का एक असर 'संस्कृतिकरण'? के रूप में सामने आया है। इसके परिणामस्वरूप हिन्दू धर्मग्रन्थों में शूद्र और अस्पृश्य मानी जाने वाली जातियों के साथ-साथ अनुसूचित जनजाति के भी कई शिक्षक-प्राध्यापक हिन्दू सवर्णों के रीति-रिवाजों का बढ़-चढ़ कर न सिर्फ़ शिक्षा संस्थानों में पालन करते हुए नज़र आते हैं, बल्कि अपने सजातीय विद्यार्थियों से भी उसे अपनाने का आग्रह करते हैं।

ऐलफिन्सटन के मिनट्स में सुझाए शिक्षा के ढाँचे की तुलना आज के शिक्षा तन्त्र से करते हुए लेखकद्वय कहते हैं–

“जिस तरह का दृष्टिकोण शिक्षा के ढाँचे में शामिल अलग-अलग व्यक्तियों के प्रति ऐलफिन्सटन का था वही आज भी दिखाई देता है। ऐसी व्यवस्थाएँ बनाने की कल्पना बढ़ ही रही है, जिसमें स्कूली स्तर पर किए गए कार्य का निरीक्षण व मॉनिटरिंग हो। गौर से देखें तो आज के ढाँचों की संरचना व कार्यपद्धति, पहल, अपने सोच, कार्य विधि पद्धति व लक्ष्य निर्धारण ऐलफिन्सटन की कल्पना से भी बहुत ज़्यादा बन्धन लगाने वाली है। ऐलफिन्सटन को तो शायद अविश्वास ही था, पर आज के संचालकों में शिक्षकों व अन्य छोटे स्तर के अधिकारियों की निष्क्रियता, गैर-काबिलियत, उद्देश्यहीनता और हर स्तर की गैर-ईमानदारी पर पक्का यकीन है।” (पृष्ठ 150-151)

आज सरकारी और ग़ैर सरकारी शालाओं तथा अन्य शिक्षा संस्थानों में हाज़िरी के लिए अँगूठे की छाप लेने वाली मशीनों और क्लोज़ सर्किट कैमरे से लेकर निरीक्षण-मॉनिटरिंग के बढ़ते प्रचलन के पीछे अधीनस्थों के प्रति यक़ीन न होने का भाव ही झलकता है। नियमित अन्तराल पर आँकड़े, तालिकाएँ और विवरणात्मक रिपोर्ट भेजा जाना वस्तुस्थिति पता करने और प्रगति को दर्ज करने का एक तरीक़ा बेशक हो सकता है, पर कहीं-न-कहीं शिक्षा प्रशासकों के मानस में यह ‘नज़र रखने’ और ‘नियन्त्रित करने’ का माध्यम भी है।

हम जानते हैं कि कोई भी केन्द्रीय तंत्र किन्हीं भी प्रशासकीय ढाँचों के बग़ैर चल नहीं सकता। शिक्षा का आमूल विकेन्द्रीकरण करना यानी शिक्षा को सरकार का विषय न मानकर उसे स्थानीय समाज के हाथों में सौंप देना अपने-आप में एक क्रान्तिकारी विचार है। यह एक विकल्प हो सकता है लेकिन प्रश्न यही है कि हम इस विकेन्द्रीकरण से क्या हासिल करना चाहेंगे?

प्रस्तुत किताब में यह लेख अपनी सहज भाषा और इतिहास-वर्तमान को साथ-साथ लेकर चलने की लेखन शैली की वजह से तुलनात्मक रूप से अधिक पठनीय और सुगम है। इसलिए पाठक इससे जुड़ा रह सकता / सकती है और अपने काम और परिवेश को देखने के लिए इसे एक सन्दर्भ बिन्दु या आईने के रूप में इस्तेमाल कर सकता / सकती है। जैसे– शिक्षा के सार्वजनीकरण (समाज के ग़रीब और वंचित तबक़ों तक गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की पहुँच के विशेष सन्दर्भ में) पर विमर्श के बारे में लेखक कहते हैं–

आज सरकारी और ग़ैर सरकारी शालाओं तथा अन्य शिक्षा संस्थानों में हाज़िरी के लिए अँगूठे की छाप लेने वाली मशीनों और क्लोज़ सर्किट कैमरे से लेकर निरीक्षण–मॉनिटरिंग के बढ़ते प्रचलन के पीछे अधीनस्थों के प्रति यक़ीन न होने का भाव ही झलकता है।

“...वह (ऐलफिन्सटन) यह भी कहता है कि गरीब लोगों की खुशी उनको प्राप्त शिक्षा पर निर्भर है और शिक्षा उन्हें समझदारी, स्वतंत्रता और आत्म सम्मान देती है। उनको यह भी लगता है कि बाल विवाह, बढ़ती जनसंख्या, बचत का दुरुपयोग व साहूकारों के सामने असहायता का अहसास, सभी कुछ शिक्षा से दूर किए जा सकते हैं।... इसीलिए उनको शिक्षा की जरूरत है। यह तर्क पिछले बीस साल में तो कई बार दिया ही गया होगा ही शायद आज भी यह तर्क सभी के लिए शिक्षा क्यों

ज़रूरी है पर बहस के दौरान दिया जा सकता है।" (पृष्ठ 154)

लेख में ऐलफिन्सटन के विचारों की सीमाओं और उलझनों को भी दर्ज किया गया है, जैसे– स्थानीय भाषा और स्थानीय ज्ञान के मसले पर उसकी राय उलझी हुई नज़र आती है। अन्त में लेखकद्वय ऐलफिन्सटन को उसकी ऐतिहासिक परिस्थिति में रखकर देखने-जाँचने का सुझाव देते हैं (यह किताब ही इस भूमिका से प्रस्तुत की गई है), न कि एक षड्यन्त्रकारी के रूप में।

वरदराजन नारायण का शोधपरक और विद्वत्तापूर्ण आलेख 'ओरियंटलिस्ट : एंग्लिसिस्ट बहस; समृद्धता की पड़ताल' अगर पुस्तक की शुरुआत में दिया जाता तो भारत में शिक्षा कैसी होनी चाहिए, किस भाषा में होनी चाहिए, शिक्षा देने का दायित्व किसका होना चाहिए...? जैसे मूलभूत प्रश्नों पर जो ऐतिहासिक विमर्श हुआ है, उसका वृहद परिचय पाठकों को आरम्भ में ही हो जाता। इससे उन्हें शेष लेखों को भी उचित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने में मदद मिल सकती थी।

पुस्तक में दलित विमर्श का प्रतिनिधि स्वर डॉ वेददान सुधीर का आलेख 'मैकॉले और भारतीय शिक्षा : एक विश्लेषण' है, जिसमें वह ब्राह्मणवाद की कठोर आलोचना करते हुए दलितों के उत्पीड़न से मुक्ति के एक सफल माध्यम के रूप में अँग्रेज़ी शिक्षा को देखते हैं।

पुस्तक में दलित विमर्श का प्रतिनिधि स्वर डॉ वेददान सुधीर का आलेख 'मैकॉले और भारतीय शिक्षा : एक विश्लेषण' है, जिसमें वह ब्राह्मणवाद की कठोर आलोचना करते हुए दलितों के उत्पीड़न से मुक्ति के एक सफल माध्यम के रूप में अँग्रेज़ी शिक्षा को देखते हैं।

अपूर्वानन्द अपने लेख 'मैकॉले बाधा और हिन्दी' में लीक से हटकर हिन्दी की बात करते हैं, वह भी उस हिन्दी की जो अन्य भारतीय भाषाओं को निगल जाने वाली औपनिवेशिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। वह कहते हैं–

"हिन्दी और भावना के सम्बन्ध के पीछे गलतफहमी यह रही है कि इस क्षेत्र की बहुलांश आबादी की मातृभाषा हिन्दी है। खड़ी बोली हिन्दी उन लोगों के लिए अभी भी सीखी जाने वाली और कामकाजी भाषा है जो घरों और गाँवों या मोहल्लों में ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, बुन्देली, राजस्थानी, हो, मुण्डारी, संथाली आदि बोलते हैं। हिन्दीवासी मन ही मन इन सारी भाषाओं की मृत्यु की कामना करते आए हैं, जिससे हिन्दी का मार्ग निष्कंटक हो जाए लेकिन वह अब तक नहीं हो पाया है।... एक लम्बे समय तक शिक्षा और ज्ञान की निगाहों से ओझल आदिवासी भाषाएँ भी राजकीय साधनों पर अपना दावा पेश करने लगी हैं।" (पृष्ठ 252)

यह सिर्फ़ हिन्दी की बात नहीं। गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी, कर्नाटक में कन्नड़... ऐसी तमाम 'प्रादेशिक भाषाओं' ने भी अपने-अपने इलाक़े की स्थानीय भाषाओं को निगल जाने वाली उस औपनिवेशिक प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया है। राजस्थान में मेवाड़ी, मारवाड़ी आदि भाषाओं को 'समेकित' करके 'राजस्थानी' नामक भाषा गढ़ने की क़वायद जारी है। छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश में स्कूलों की 'माध्यम भाषा' हिन्दी होने से गोण्डी, हलबी आदि भाषा बोलने वाले बच्चों का प्राथमिक शिक्षण काफ़ी प्रभावित हो रहा है। व्यावहारिक विकल्प के अभाव में यह सब देखकर भी अनदेखी करना शायद शिक्षाविदों की लाचारी है।

आगे अपूर्वानन्द कहते हैं–

हिन्दी प्रेमियों के लिए शायद

उपरोक्त दोनों टिप्पणियाँ भावनात्मक चोट पहुँचाने वाली हो सकती हैं, किन्तु त्रासद वस्तुस्थिति यही है। अपूर्वानन्द सही कहते हैं कि हिन्दी की लड़ाई स्थानीय भाषाओं से नहीं, अँग्रेज़ी से है। हिन्दी को अकादमिक भाषा और ज्ञान निर्माण की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित न हो पाने की पीड़ा इस लेख में नज़र आती है।

पाठक इससे वाक़िफ़ होंगे कि शालाओं की 'माध्यम भाषा' का विमर्श विकसित होकर अब बहुभाषिता के महत्त्व, कक्षा के बहुभाषीय स्वरूप की मान्यता और स्वीकार्यता एवं शिक्षण प्रक्रिया में बहुभाषी तत्त्वों के समावेश तक पहुँच गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019 में इसे सैद्धान्तिक रूप से अपनाया गया है और उससे आगे बढ़कर व्यवहार में लाने का संकल्प भी नज़र आता है।

"...जहाँ तक संभव हो– कम से कम ग्रेड 5 तक लेकिन वांछनीय तो यह है कि यह ग्रेड 8 तक हो– सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में होने वाले संवाद का माध्यम मातृ भाषा / घर की भाषा/ स्थानीय भाषा में होंगे। इसके बाद, घर की भाषा / मातृ भाषा को लगातार एक भाषा के रूप में जहाँ तक संभव हो सिखाना चाहिए। इसी प्रकार उच्च दर्जे की पाठ्य-पुस्तकें, जिसमें विज्ञान भी शामिल है, जरूरत के मुताबिक और जितना संभव है स्थानीय भाषा / मातृ भाषा में मुहैया करवाई जाएँगी।"[4]

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019 में आगे कहा गया है–

"शिक्षाक्रम एक लचीली-भाषा एप्रोच को बढ़ावा देगा। कक्षा में इसे प्रोत्साहित करेगा। शिक्षकों को प्रोत्साहित किया जाएगा कि वे द्विभाषी एप्रोच को अपनाएँ ना केवल संवाद में बल्कि सीखने-सिखाने की सामग्री भी द्विभाषी हो, ताकि जिन विद्यार्थियों की घर की भाषा और स्कूल की भाषा अलग है उन्हें स्कूल की भाषा में पारंगत होने में सहायता मिले।"[5]

ऐलफिन्सटन और मैकॉले भी भारत में अँग्रेज़ी शिक्षा के ज़रिए आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रसार हेतु जिस तरह के सुझाव दे रहे थे, लगभग उसी तरह के सुझाव आपको प्रस्तावित राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2019) के प्रारूप में भी नज़र आएँगे, जैसे– स्थानीय शिक्षित युवकों को शिक्षक बनाना, स्थानीय भाषाओं में आधुनिक ज्ञान का अनुवाद करके उसका प्रसार करना, स्थानीय समुदाय को शाला प्रशासन के कुछ हिस्सों में शामिल करना, वग़ैरह। कहा जा सकता है कि लगभग दो सदियों पहले ऐलफिन्सटन और मैकॉले के दिए प्रस्ताव भारत के वर्तमान शिक्षा नीति निर्माताओं को आज भी प्रासंगिक लगते हैं और भावी शिक्षा की रूपरेखा बनाते वक़्त भी वे इन्हीं प्रस्तावों के इर्दगिर्द घूमते नज़र आते हैं।

"हिन्दी का यह दावा कि वह करोड़ों लोगों द्वारा बोली और समझी जाती है, व्यर्थ है क्योंकि उसमें ज्ञान का कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं होता।"

किताब की प्रस्तावना बहुत ही लम्बी है (37 पृष्ठ) और कहीं-कहीं अप्रासंगिक, इसलिए पढ़ते हुए उबाऊ लगने लगती है। प्रस्तावना की शुरुआत में ही इस मत का खण्डन कर दिया

4. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019; मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार; पृष्ठ 107.

5. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (प्रारूप) 2019; मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार; पृष्ठ 107.

गया है कि अँग्रेज़ों के आगमन से पहले देशज शिक्षा की कोई वृहद और समावेशी व्यवस्था थी। देखें–

"बात को आगे बढ़ाने से पहले एक छोटी टिप्पणी उस समय की शिक्षा व्यवस्था के बारे में अति आवश्यक है, क्योंकि बहस का आरम्भ तो वहीं से है। ऐसा बहुत बार सुनने में आता है कि उस समय भी बहुत से स्कूल थे या कई बार यह भी कहा जाता है कि आज जैसे स्कूल तो नहीं थे, किन्तु तब शिक्षक गाँव-गाँव में जाते और वहाँ पढ़ाते थे। इन सबके बारे में शायद और गहरी पड़ताल की आवश्यकता है फिर भी यह तो प्रतीत होता है कि शिक्षा के मौके सबके लिए नहीं थे। जहाँ ज़्यादा बच्चों के लिए यह मौक़े उपलब्ध थे भी वहाँ सभी को इस तरह से शिक्षित नहीं किया जाता था। यह भी कहा जा सकता है कि ज़्यादातर बच्चों को पढ़ने के अवसर मन्दिरों और मदरसों में ही मिलते थे। यहाँ जाहिर है कि स्कूल के समय का एक बड़ा हिस्सा धर्म सम्बन्धी जानकारी व कर्मकाण्ड के लिए था।" (पृष्ठ 8-9)

कुल मिलाकर, शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों, विद्यार्थियों और आम जिज्ञासु पाठकों के लिए यह पुस्तक काफ़ी उपयोगी है। लेखकों और शोधकर्ताओं के लिए यह पुस्तक नि:सन्देह एक उपयोगी स्रोत सामग्री सिद्ध होगी।

उपरोक्त कथन में दावे किए गए हैं कि अँग्रेज़ों से पहले कोई व्यापक देशज शिक्षा व्यवस्था नहीं थी या अगर थी भी तो वह काफ़ी सीमित थी। आश्चर्य है कि "प्रतीत होता है...", "कहा जा सकता है..." जैसी अनिश्चयकारी शब्दावली का उपयोग करते हुए और बग़ैर किसी स्रोत का हवाला दिए ये एकपक्षीय दावे कर दिए गए हैं। "शिक्षा के मौक़े सबके लिए" होना भी एक अबूझ पहेली है, या यह एक ऐसा जुमला है जिसे विविध अर्थों और उद्‌देश्यों के साथ विविध मौक़ों पर कभी तलवार तो कभी ढाल की तरह इस्तेमाल किया जाता है। क्या आज इक्कीसवीं सदी के भारत में भी "शिक्षा के मौक़े सबके लिए"– यह दावा किया जा सकता है?

इस सन्दर्भ में बेहतर होता कि धर्मपाल व पोरमेश आचार्य के शोधपरक कार्य के साथ-साथ विलियम एडम, लिटनर जैसे अँग्रेज़ अधिकारियों की रिपोर्टों में दिए गए तथ्यों और आँकड़ों को भी एक नज़र देख लिया गया होता और उनका उल्लेख करते हुए यथोचित तथ्यात्मक व तार्किक खण्डन किया गया होता।

पुस्तक के शेष लेख भी कुछ हद तक पाठकों के लिए उपयोगी और ज्ञानवर्धन करने वाले हैं, लेकिन अधिकांश जगह पर विषय, विषय-वस्तु और प्रस्तुति में दोहराव करते नज़र आते हैं। सम्पादकों द्वारा अधिकाधिक लेखकों को स्थान देने का लोभ संवरण करते हुए पुस्तक का आकार कुछ छोटा रखना पुस्तक की पठनीयता की दृष्टि से शायद बेहतर होता।

पुस्तक के अन्त में दिए गए चारों अनूदित दस्तावेज़ बहुत ही उपयोगी हैं। बेहतर होता कि पुस्तक की रूढ़िवादी रचना में नवाचारी बदलाव करते हुए दस्तावेज़ों को सबसे पहले भाग के रूप में दिया जाता, फिर क्रमशः आलेख होते, और जो विस्तृत प्रस्तावना है वह सम्पादित रूप में उपसंहार के रूप में पुस्तक के अन्त में दी जाती। परिशिष्ट के रूप में भारत में शिक्षा के विकास क्रम की प्रमुख घटनाओं को एक कालानुक्रम (chronology) के रूप में दिया जाना

पाठकों के लिए मददगार होता।

कुल मिलाकर, शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों, विद्यार्थियों और आम जिज्ञासु पाठकों के लिए यह पुस्तक काफ़ी उपयोगी है। लेखकों और शोधकर्ताओं के लिए यह पुस्तक निःसन्देह एक उपयोगी स्रोत सामग्री सिद्ध होगी।

अमित कोहली घुमक्कड़ी करने और पढ़ने के शौकीन हैं। तकरीबन 15 साल एकलव्य फाउण्डेशन के साथ विविध स्तरों पर काम किया है। शिक्षा के इतिहास, डिस्कूलिंग एवं वैकल्पिक शिक्षा में विशेष रुचि है। अमित स्वयं को वैचारिक रूप से मो.क. गाँधीजी के करीब पाते हैं।
सम्पर्क : amit1205@gmail.com